सुरेश शर्मा
सभ्यता की संवेदना

शैल मायाराम

अनुवाद : नरेश गोस्वामी

इतिहासकार, मानवशास्त्री और सिद्धांतकार सुरेश शर्मा (1945–2019) का स्मरण करते हुए मेरे ज़ेहन में हन्ना अरेंत की गिफ़र्ड व्याख्यानमाला का शीर्षक 'लाइफ़ ऑफ़ द माइंड' गूँज रहा है। अरेंत ने इस शीर्षक का इस्तेमाल चिंतन के उस रूप को इंगित करने के लिए किया था जो मनुष्य की विचारहीनता से उलट चीज़ों का मूल्यांकन करते हुए सद् और असद् में अंतर करने का विवेक रखता है। सुरेश शर्मा के निधन की दुखद सूचना मुझे 16 मई को मिली। आख़िरी बार जब मैंने उनके स्वास्थ्य के बारे में पूछताछ की थी तो पता चला था कि शल्यक्रिया के बाद उनकी सेहत में सुधार हो रहा था, लेकिन बाद में शायद वह सर्जरी सफल नहीं हो पायी।

मेरे और सुरेश के कई साझे दायरे थे। शुरू में एक दायरा जयपुर का था, जहाँ उनकी पत्नी दीपा भल्ला के परिवार के अलावा मेरा परिवार भी रहता था। उन दिनों मेरा परिवार यानी फ्रांसीन और दयाकृष्ण राजस्थान विश्वविद्यालय परिसर के सी-6 में रहा करते थे और सुरेश सी-6ए में। दोनों परिवारों में गहरी मित्रता थी। एम.एम. भल्ला विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग में मेरी माँ के वरिष्ठ सहयोगी थे। दयाकृष्ण ने अपनी किताब *सोशल फिलॉसफ़ी* भल्ला और उनके साथ बग़ीचे के द्वार पर अकसर होने वाली बतकही को समर्पित की थी।

सुरेश और मैं एक साथ प्रोफ़ेसर बने। मैंने विकासशील समाज अध्ययन पीठ के वैचारिक संसार में 2002 में बरास्ते लोकायन क़दम रखा। सुरेश 2004 से 2007 तक पीठ के निदेशक रहे। धर्मपाल हम दोनों के श्रद्धेय थे। सुरेश ने पीठ में धर्मपाल के अनूठे कृतित्व पर एक परिचर्चा का आयोजन किया था। हमारा एक और साझा दायरा रामचंद्र गाँधी से जुड़ा था। पीठ में रामचंद्र गाँधी की *मांडूक्य उपनिषद्* पर केंद्रित एक व्याख्यान-शृंखला का भी आयोजन किया गया था। अफ़सोस कि उनकी यह व्याख्यान-शृंखला पुस्तक के रूप में नहीं आ पायी।

आधुनिक चेतना दावा करती है कि उसने हमें प्रगति, समृद्धि और आज़ादी जैसे सार्वभौम विचारों की सौग़ात दी है। लेकिन, सुरेश आदिवासी जीवन-शैली के रोज़मर्रापन में मूर्तिपूजकों की एक शाश्वत सार्वभौमिकता को लक्षित कर लेते हैं। झूम खेती (किसी स्थान पर एक समय तक खेती करने के बाद उस खेत की जगह को जला कर नयी जगह के लिए आगे बढ़ जाना) को जीवनयापन के सबसे आदिम तरीक़े के रूप में देखा जाता है, जबकि सच्चाई यह है कि खेती की यह प्रणाली पर्यावरण को सबसे कम हानि पहुँचाती है। सुरेश बताते हैं कि अगरिया समुदाय में लौह-शोधन की एक विकसित परम्परा प्रचलित थी जिसका सागर के कलेक्टर ने झूलने वाले पुलों के निर्माण में इस्तेमाल किया था। रायपुर में अगरिया समुदाय के लौह-शोधकों का सबसे बड़ा टोला था।

हमारा एक सूत्र मध्य प्रदेश— ख़ास तौर पर भोपाल से भी जुड़ा था। भोपाल उन दिनों अनेकानेक बौद्धिक पहलक़दमियों का केंद्र बना हुआ था। मेरी चाची प्रमिला कुमार भूगोल की एक सुपरिचित विद्वान थीं और उन दिनों एकलव्य द्वारा निर्देशित स्कूली पाठ्य-पुस्तकों के पुनर्लेखन की मुहिम में शामिल थीं। उनके पति सत्येन कुमार हिंदी के जाने-माने लेखक थे जो मंज़ूर एहतेशाम, निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती जैसे अन्य लेखक-लेखिकाओं तथा गगन गिल और अशोक वाजपेयी जैसे कवियों से सम्पर्क रखते थे। सुरेश उन दिनों—1983-1986 के दौरान बस्तर में फ़ील्डवर्क कर रहे थे और उनका भोपाल आना-जाना लगा रहता था।

मैं उनकी किताब *ट्राइबल आइडेंटिटी ऐंड द मॉडर्न वर्ल्ड* (1994) के नेपथ्य में उनके साथ होने वाली चर्चाओं की गूँज आज भी महसूस कर सकती हूँ। उस समय भोपाल संग्रहालयों के एक केंद्र-स्थल के रूप में विकसित हो रहा था : सुरेश को मनुष्य जाति के क्रिया-कलापों को समर्पित एक विलक्षण संग्रहालय का परामर्शदाता नियुक्त किया गया था। इस संग्रहालय में अगरिया, बैगा तथा गोंड समुदाय की जीवन-शैली और उनके लोक की वस्तुओं का निदर्शन किया गया था। भारत भवन के परिसर में एक प्रभाग लोक-कला के लिए भी बनाया गया था। बाद में इस जगह पर आदिवासियों से संबंधित एक संग्रहालय स्थापित किये जाने की बात भी चल रही थी। भारत भवन से जगदीश स्वामीनाथन की दो पुस्तकें *द मैजिकल स्क्रिप्ट* (1983) तथा द *परसीविंग फ़िगर्स* (1987) भी प्रकाशित हुई थीं।

सुरेश स्वामीनाथन की इस अंतर्दृष्टि को गहरे कृतज्ञता भाव से देखते थे कि आदिवासी कला 'हमारे भीतर और हमारे बराबर में' निवास करती है। और वह हमारे समयों की एक 'समकालीन अभिव्यक्ति' भी बन सकती है।

सुरेश की उक्त पुस्तक का बहुत व्यापक वितान है। इसमें वे एक ओर फर्नैंद ब्रोदेल द्वारा उद्धृत औद्योगिक क्रांति की औसत से कहीं ज़्यादा लम्बी शताब्दी (1450-1650) के दौरान युरोप में होने वाले उस बुनियादी परिवर्तन की थाह लेते हैं जिसके चलते वहाँ के विशाल घुमंतू समुदाय स्थायी अर्थव्यवस्थाओं के समाज में रूपांतरित हो गये थे। दूसरी तरफ़ 1571 में लेपांटो में ऑटोमन साम्राज्य पर होली लीग की उस विजय को भी दर्ज करते हैं जिसके बाद भूमध्यसागर का क्षेत्र ईसाईयत के वर्चस्व में आ कर एशियाई सत्ता और सभ्यता का उत्स बन बैठा था। यह अलग बात है कि इस प्रस्थापनागत बदलाव के बावजूद एशिया में घूमंतू स्तेपियाँ बदस्तूर फलती-फूलती रहीं।

सुरेश का तर्क यह है कि आदिवासियों की जीवन-प्रणाली 'विश्वासों की एक ऐसी जटिल संरचना होती है जो विशुद्धत: उत्पादन या प्रगति पर आधारित न होकर सभ्यता की संवेदना गढ़ने का काम करती

हैं।' वे औपनिवेशिक मानवशास्त्र का वह पुराना द्विभाजन स्वीकार नहीं करते जिसमें क़बीलाई-ग़ैर-क़बीलाई अंतर्क्रियाओं को भारत की तीन सहस्राब्दियों के इतिहास की विशेषता बताया जाता है। आदिवासियों की विशिष्टता वस्तुत: ग़ैर-आदिवासी लोक के बहुत निकट बैठती है। इस संबंध में अबूझमाड़ का उदाहरण दिया जा सकता है जहाँ खेती और पेंदा सदियों से जीविकोपार्जन की प्रणाली रही है।

उदयन वाजपेयी को दिये अपने एक साक्षात्कार में सुरेश ने तथाकथित मूर्तिपूजकों (पेगन) के विषय में बड़े सुंदर ढंग से बात की है। सामी-इब्राहिमी धर्मों में इलहाम को परम सत्य का स्रोत माना जाता है। यूनानी साम्राज्य में मूर्तिभंजन का अभियान इसीलिए शुरू हुआ। आधुनिकता के दौर में ईसाईयत की परम्पराओं ने शहादत (प्राणोत्सर्ग) और सेवा के विचार को प्रश्रय दिया है। मोटे तौर पर कहें तो मूर्तिपूजक समुदायों की विश्व-दृष्टि में सृष्टिकर्ता जैसा कोई प्रत्यय मौजूद नहीं है, लेकिन इसी के साथ उनकी इस विश्वास में अखण्ड आस्था है कि ऐसी कोई जगह, समय या भाषा नहीं है जिसमें सत्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। भारत में धार्मिकता और सामाजिकता— समाज व सम्प्रदायों के बीच हमेशा एक संवाद चलता रहता था। और यह इसके बावजूद चलता था कि कतिपय सम्प्रदाय ख़ुद को परम सत्य का ध्वजवाहक माने हुए थे।

मूर्तिपूजक समाजों में केवल मनुष्य ही नहीं, जीवों की समस्त प्रजातियों को रक्षा का पात्र समझा जाता था। इस संबंध में सुरेश ने अशोक के पशु-चिकित्सालयों, गर्भवती मादा पशुओं के शिकार की मनाही, वर्षा— ऋतु में मछलियों के प्रजनन-चक्र के कारण जाल न डालने तथा अण्डे से परहेज़ रखने वाली आदिवासी महिलाओं का उल्लेख किया है। ग़ौरतलब है कि दिल्ली के चाँदनी चौक में पशुओं का जैन चिकित्सालय आज तक काम कर रहा है।

आधुनिक चेतना दावा करती है कि उसने हमें प्रगति, समृद्धि और आज़ादी जैसे सार्वभौम विचारों की सौग़ात दी है। लेकिन, सुरेश आदिवासी जीवन-शैली के रोज़मर्रापन में मूर्तिपूजकों की एक शाश्वत सार्वभौमिकता को लक्षित कर लेते हैं। झूम खेती (किसी स्थान पर एक समय तक खेती करने के बाद उस खेत की जगह को जला कर नयी जगह के लिए आगे बढ़ जाना) को जीवनयापन के सबसे आदिम तरीक़े के रूप में देखा जाता है, जबकि सच्चाई यह है कि खेती की यह प्रणाली पर्यावरण को सबसे कम हानि पहुँचाती है। सुरेश बताते हैं कि अगरिया समुदाय में लौह-शोधन की एक विकसित परम्परा प्रचलित थी जिसका सागर के कलेक्टर ने झूलने वाले पुलों के निर्माण में इस्तेमाल किया था। रायपुर में अगरिया समुदाय के लौह-शोधकों का सबसे बड़ा टोला था।

आधुनिकता आदिवासियों के प्रति विशेष रूप से निर्मम रही है। इसके चलते आदिवासियों अपने ही संसार से विमुख हो गये हैं। अपने कौशल को ताक पर रख कर आये इन आदिवासियों की बाज़ार में केवल एक अकुशल मज़दूर की हैसियत होती है। आधुनिक दुनिया उनके प्रति करुणा का प्रदर्शन तो करती है, लेकिन उनके अस्तित्व के गहन सत्य को कोई महत्त्व नहीं देता। सुरेश कहते हैं कि आदिवासी आधुनिक दुनिया में एक तरह के भय और रोष के साथ दाख़िल होते हैं, परंतु विडम्बना यह है कि उन्हें अब अपनी दुनिया के सत्य और सौंदर्य का ही भान नहीं रह गया है। सुरेश की नज़र में माओवादी आदिवासियों के अस्तित्व को महज़ शोषण की राजनीति के संदर्भ में रखकर देखते हैं और यह एक ऐसी राजनीति है जो इस बात में यक़ीन करके चलती है कि अपनी दुनिया के सत्य, सौंदर्य और उनमें निहित दार्शनिक आधार से पिण्ड छुड़ाए बग़ैर आदिवासी समुदाय बराबरी का मुक़ाम हासिल नहीं कर सकते।

गाँधी में उनकी दिलचस्पी बहुत पहले से थी। सुरेश लिखते हैं कि गाँधी लोक और आदिवासी जीवन-शैली को भारतीय सभ्यता का सबसे प्रतिनिधि स्वर मानते हैं क्योंकि एक यही जीवन-शैली ऐसी है जो औपनिवेशिकता से आक्रांत नहीं है। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता सार्वभौम को श्रेणियों, परिभाषाओं और मूल्यों में परिणत करने का दावा करती है। पीड़ित पक्ष की ओर गाँधी पहले ऐसे चिंतक हैं जो यह कहने का साहस रखते हैं कि आधुनिक सभ्यता पराये भू-भागों के ध्वंस और लूट

सुरेश का तर्क यह है कि आदिवासियों की जीवन-प्रणाली 'विश्वासों की एक ऐसी जटिल संरचना होती है जो विशुद्धतः उत्पादन या प्रगति पर आधारित न होकर सभ्यता की संवेदना गढ़ने का काम करती हैं।' वे औपनिवेशिक मानवशास्त्र का वह पुराना द्विभाजन स्वीकार नहीं करते जिसमें क़बीलाई-ग़ैर-क़बीलाई अंतर्क्रियाओं को भारत की तीन सहस्राब्दियों के इतिहास की विशेषता बताया जाता है। आदिवासियों की विशिष्टता वस्तुतः ग़ैर-आदिवासी लोक के बहुत निकट बैठती है। इस संबंध में अबूझमाड़ का उदाहरण दिया जा सकता है जहाँ खेती और पेंदा सदियों से जीविकोपार्जन की प्रणाली रही है।

पर टिकी है। सुरेश शर्मा एवं त्रिदीप सुहृद द्वारा सम्पादित *हिंद स्वराज्य* पहला ऐसा त्रिभाषी संस्करण है जिसमें गुजराती के मूल संस्करण को अंग्रेज़ी के समानांतर रखा गया है। इस विवेचनापरक टीका के सम्पादक-द्वय कहते हैं कि गाँधी द्वारा आधुनिक सभ्यता की आलोचना करना बड़े साहस का काम था क्योंकि वे यह काम आधुनिक विमर्श के दायरे से बाहर रह कर रहे थे। उनके अनुसार यह इसलिए भी एक महत् कार्य था क्योंकि उस समय एक बुद्धिजीवी या राजनीतिज्ञ के तौर पर गाँधी की कोई ख़ास छवि नहीं थी और वे दमन और अन्याय के संघर्ष में तब भी अहिंसा को सर्वोपरि मान रहे थे।

भातीय चिंतन सुरेश का स्थायी सरोकार था। मुझे याद आता है कि जी.पी. देशपाण्डे के विनोबा पर केंद्रित एक व्याख्यान में हस्तक्षेप करते हुए सुरेश ने विनोबा को गोपीनाथ कविराज, हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा टैगोर जैसे बौद्धिक शिखर-पुरुषों के समकक्ष बताया था। पर्यावरण कार्यकर्ता किशोर सेंट ने उन्हें विनोबा का आदिवासियों को सम्बोधित एक संदेश का अनुवाद भिजवाया था जिसमें ग्राम स्वराज तथा आदिवासियों के बीच वह सह-संबंध देखा जा सकता है जिसकी गाँधी परिकल्पना करते हैं और जिसे बाद में विनोबा ने इस रूप में प्रस्तुत किया है कि ग्राम धर्म ही विश्व धर्म होता है। विनोबा का भूदान आंदोलन इसी परिकल्पना पर आधारित था। विनोबा इस मान्यता का ज़ोरदार खण्डन करते हैं कि आदिवासी संस्कृतिहीन लोग होते हैं। विनोबा की दृष्टि में ऋग्वेद एक आदिवासी ग्रंथ है क्योंकि उसमें घुमंतू समुदायों की संस्कृति, भावनाओं, पूजा और जीवन-शैली का विवरण मिलता है। विनोबा मानते हैं कि जिस तरह औपनिवेशिक शासन से मुक्ति पाने के लिए स्वदेशी धर्म का प्रचार किया गया था, उसी तरह उत्तर-औपनिवेशिक समय में ग्राम धर्म की अवतारणा की जानी चाहिए। ग्राम धर्म की इस परिकल्पना में विनोबा गाँव की स्वायत्तता, ग्राम सभा की केंद्रीय भूमिका, ग्रामस्तरीय नियोजन, सम्पूर्ण ग्राम को एक समुदाय के तौर पर देखने, सर्वोदय के आदर्शों का पालन करने, ग्राम में उपलब्ध कौशल पर आधारित उत्पादन और ग्राम निर्मित वस्तुओं का उपभोग करने तथा अंततः गाँव की समस्त भूमि पर सामूहिक स्वामित्व जैसे तत्त्व शामिल करते हैं। विनोबा के इस लेख को ग्राम गणराज्य के उस आगामी नक़्शे का पूर्वाभास कहा जा सकता है जिसे हम जल, जंगल और ज़मीन पर जनता के दावे और इस दावे को सुनिश्चित करने के लिए पीसा (1996) तथा वनाधिकार अधिनियम (2006) के क्रियान्वयन में देख सकते हैं।

सुरेश हिंदी और अंग्रेज़ी, दोनों भाषाओं में सहज गति रखते थे। उनकी रुचि भारत से लेकर चीन और भाषा से लेकर कलाओं तक व्याप्त थी। मुझे उनके साथ हुई एक बातचीत का स्मरण हो रहा है। हम चीन में राज्य की शक्ति के बारे में बात कर रहे थे तो उन्होंने बताया कि चीन में कम से कम एक हज़ार वर्षों तक ऐसा शासन रहा था जिसमें एक मंत्री आप्रवासियों का ध्यान रखने के लिए नियुक्त किया जाता था। सैयद हैदर रज़ा की स्मृति में लिखा गया उनका लेख 'रज़ा के साथ' उनकी 2007 की एक बातचीत पर आधारित

है जिसमें सुरेश रज़ा से शून्य और आकार, अनस्तित्व और रूप तथा उस बिंदु पर चर्चा कर रहे हैं जिसे एक ही साथ अनस्तित्व और अपरिमित सम्भावना का उभय-स्थल माना जा सकता है। यह सच भी है कि योग-चिंतन में शून्य को आत्मोपलब्धि का पूर्ववर्ती कहा गया है। सुरेश कहते हैं कि भारत की दार्शनिक परिकल्पना में रूप को अरूपता से अभिन्न माना गया है। रज़ा इस वार्तालाप का अंत इस सुंदर उक्ति के साथ करते हैं कि, 'कला उस आशा को ध्वनित करती है जो ज्ञान के परे वास करती है।'

सुरेश की टिप्पणियाँ मेरे और कुछ अन्य लोगों के ज़ेहन पर लम्बे समय तक तारी रहती थीं। उनकी यह टिप्पणी मुझे आज भी सोचने पर मजबूर करती हैं कि अपधर्म इब्राहिमी धर्मों का एक विशेष विभाजक-चिह्न है। अगले साल मैं इस विषय पर एक कांफ्रेंस का आयोजन करने जा रही हूँ। संस्थान से उनकी विदाई के बाद पीठ की पुरानी इमारत में मुझे वही कमरा दिया गया जिसमें कभी सुरेश काम किया करते थे— कमरे के सुरुचिपूर्ण काष्ठ-शिल्प और ख़ास तौर पर उस कोने में उनकी उपस्थिति आज भी यथास्थान है जहाँ वे दार्जिलिंग चाय की ख़ुशबू से महकता प्याला तैयार करते थे। उनकी स्मृति हम से जैसे यह कह रही है कि सत्य, सौंदर्य और शुभ की खोज एक अविभाज्य क्रिया होती है।